''पूर्व मध्ययुगीन राजस्थान के मूर्तिशिल्प से शक्ति (दैवी) परंपरा के विविध रूपः ऐतिहासिक विवेचन''

*डॉ. ममता यादव

धर्म प्रधान भारत देश में शक्ति पूजा परम्परा अति–प्राचीन है। सभ्यता के जन्म से लेकर आधुनिक समय में किसी न किसी रूप में शक्ति मातृदेवियों के रूप में पूजा की जाती रही है। मातृदेवी का पूजन सृष्टि की निरन्तरता बनाए रखने के कारण होता रहा है। सैन्धव सभ्यता में वृक्ष के नीचे बैठी देवी प्रतिमा, जिसके दोनों ओर पुरुष अंजलिबद्ध मुद्रा में अंकित है, को पृथ्वी देवी के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। एक मुद्रा पर नग्न स्त्री की आकृति जिसके उदर में से वृक्ष निकलता हुआ दिखाया गया है। ऋग्वैदिक काल में पुरुष प्रधानता होने से देवी का स्थान गौण ही रहा। उत्तरवैदिक कालीन साहित्य में देवियों की स्थिति बेहतर प्रतीत होती है। 'विराज' को तीन लोकों की माता कहा गया है। 'अदिति' का मातृत्व रूप निखरा हुआ है। सरस्वती, अम्बिका, उमा, दुर्गा, काली, कात्यायनी, कन्याकुमारी आदि अन्य देवियों का वर्णन प्राप्त होता है। गुप्तकाल में शक्ति– उपासकों के सम्प्रदाय का विकास हुआ। कुषाण काल के बाद मातृका एवं शक्ति–पूजन के मध्य समन्वय की स्थापना हुई जिसे स्पष्टतः सप्त या अष्ट मातृकाओं की धारणा में देखा गया। शैव धर्म के प्रभाव में वृद्धि के बाद शक्ति–कल्पना को शिव की शक्ति उमा या पार्वती से एकीकृत किया गया। गुप्तकाल में शक्ति – मूर्तियों का निर्माण अधिक देखने को मिलता है।

पूर्व–मध्यकाल में शक्ति– पूजा और प्रतिमा विज्ञान के विकास के फलस्वरूप सभी क्षेत्रों में शक्ति के विविध रूपों की मूर्तियां बनी। भुवनेश्वर, खजुराहों, मोढ़ेरा, जगत एवं ओसियाँ जैसे स्थलों पर देवी मन्दिरों का निर्माण हुआ। उत्तर गुप्तकाल में शक्ति की पूजा भयानक रूप (महिषमर्दिनी, चामुण्डा तथा सप्तमातृका), शांत रूप (क्षेमंकरी, सरस्वती, लक्ष्मी (गजलक्ष्मी), श्रृंगार दुर्गा तथा तपस्यारत पार्वती आदि रूपों में होती थी। भारतीय शिल्पशास्त्र में मातृकाएँ अपना विशेष स्थान रखती है। सामान्यतः मातृकाओं की संख्या सात है। अपराजितपृच्छा,[1] अग्निपुराण[2], व रूपमंडन[3] में सप्त मातृकाओं का, मत्स्य पुराण[4], देवतामूर्ति प्रकरणम्[5], देवी भागवतपुराण[6] और सिंह पुराण[7] में अष्ट मातृकाओं का वर्णन है। मार्कण्डेयपुराण[8] में मातृकाओं की संख्या नौ बताई गई है। रूपमण्ड़न और देवमुर्तिप्रकरण में इस ब्राह्मी देवी के शक्ति के प्रतिमा लक्षण दो स्थान पर मिलते है– एक बार वे ब्रह्मा की विविध मूर्तियों के साथ इनकी शक्ति सावित्री के नाम से वर्णित है तथा दूसरी बार उनका वर्णन मातृकाओं के अन्तर्गत हुआ है । अपराजितपृच्छा के अनुसार ब्राह्मी हंस पर आरूढ़ हो, इनका अंकन चतुर्मुखी तथा चतुर्भुजी हो। हाथों में अक्षमाला, सुवा, पुस्तक एवं कमण्ड़ल धारण किए हुए हो।" देवमूर्तिप्रकरण में मातृकाओं के साथ ब्राह्मी की षड्भुजी मूर्ति का वर्णन है। इस विवरण के अनुसार ब्राह्मी की प्रतिमा चतुर्मुखी, षड्भुजी और हंस पर आसीन हो। किराडू के मंदिरों में ब्राह्मी की स्वतंत्र मूर्तियां कई प्रकार से उत्कीर्ण की गई है। कुछ मूर्तियां चतुर्मुखी है तथा कुछ एकमुखी है। कुछ मूर्तियों के साथ उनके वाहन हंस को दिखाया गया है। कुछ मूर्तियों में हंस को उत्कीर्ण नहीं किया गया है।

संसार की समस्त कलाओं में मूर्तिकला को अद्वितीय स्थान प्राप्त है। यह कला विश्व की प्राचीनतम कलाओं में से

एक मानी गई है। तात्कालिक मनुष्य के द्वारा श्रद्धा एवं प्रेम के अनुरूप प्रतिमा का सृजन किया गया। मूर्तिकला की कल्पना के मुख्यतः दो प्रमुख आधार माने गए– सामाजिक एवं धार्मिक। प्रेम, श्रद्धा, निष्ठा, तृप्ति एवं संतोष का भाव विकसित होने पर मूर्ति का प्रतीक अधिक व्यापक और महत्वपूर्ण होता चला गया।[9]

भारत में मूर्तिकला का विकास विभिन्न स्तरों प्रस्तर–युग, ताम्र–युग, कांस्य–युग, लौह–युग से विकसित होती हुई भारतीय मूर्तिकला मौर्य, कुषाण, गुप्तकाल आते–आते अपने पूर्ण स्वरूप में विकसित हो गई। भारतीय मूर्तिकला में सजीवता, सहजता, स्वाभाविकता तथा सरलता जैसी विशेषताएँ मिलती है जो कि इस कला को विशिष्ट बनाती है। आठवीं से बारहवीं ईस्वी में मूर्तियां देवालयों में स्थापित होने लगी। बाह्य अलंकरण के लिए भी मूर्ति निर्माण परम्परा अपने स्वरूप में दिखाई देने लगी।[10]

राजस्थान के किराडू मन्दिर से प्राप्त मूर्तियां शैली एवं देव लक्षणों की दृष्टि से गुप्तकालीन कला परम्परा से प्रभावित ज्ञात होती है। ये मूर्तियाँ छोटी, सौम्य, गतिशील तथा आध्यात्मिक भावों से परिपूर्ण है। मूर्तियों में आभूषण, वस्त्र का अंकन अद्वितीय है। इसी प्रकार नागौर में मेड़ता के समीप केकीन्द के मंदिर भी मूर्ति कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। नीलकण्ठेश्वर मंदिर में गंगा– यमुना, अष्ट दिक्पालों, सप्तमातृकाओं की मूर्तियां बड़ी कलात्मक है।

कला के विविध आयामों में मूर्तिशिल्प एक बहुआयामी माध्यम रही है। जिसमें मानव जीवन के विभिन्न प्रकार के धार्मिक और लौकिक पक्षों को समाहित किया गया है। भारतीय कला हर युग में प्रचलित रही। इसका उदय तो मानव सभ्यता के विकास के साथ ही हो गया था। सिन्धु घाटी सभ्यता से प्राप्त भिन्न–भिन्न आकार प्रकार की मृण्मूर्तियों, मुहरे, सील आदि कला के ही रूप है।[11] जो सैंधव कलाकार की रचनात्मक प्रतिभा को सुन्दर प्रतिमाओं द्वारा मुखरित करती हुई प्रतीत होती है। ये मूर्तियाँ कही पाषाण निर्मित तो कहीं कांस्य व मिट्टी से निर्मित प्राप्त होती है। यद्यपि सर्वाधिक मूर्तियाँ मिट्टी से बनी ही मिली है। नारी की बड़ी संख्या में उपलब्ध मूर्तियों को 'देवी की प्रतिमाऐं' माना गया है। एस.के. सरस्वती के विचार में हडप्पा संस्कृति के अन्तर्गत मूर्ति निर्माण के क्षेत्र में दो प्रकार की परम्पराएँ विकसित हुई है–मृण्मूर्ति निर्माण परम्परा और प्रस्तर एवं ताम्र मूर्ति निर्माण परम्परा।[12]

ऐतिहासिक दृष्टि से कला संबंधी उल्लेख में अग्निपुराण, स्कंदपुराण, विष्णुधर्मेत्तर पुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण आदि का विशेष महत्व है। अग्निपुराण में एक हजार शिल्पों की जानकारी प्राप्त होती है जो उस समय जीविकोपार्जन के साधन थे। इसके साथ ही बौद्ध व जैन ग्रन्थों से भी कला के रूपों की चर्चा मिलती है। जहाँ वात्सल्यन के कामसूत्र में 64 प्रकार की कलाओं की एक विस्तृत सूची 'आलेख्य' नामक अध्याय में प्राप्त होती है। वहीं जैन ग्रंथों में 72 कलाओं का उल्लेख मिलता है। जैन ग्रन्थ 'नायाधम्मकहाओं' के अध्ययन से उस काल के राजवर्ग की अभिरूचि कलाओं के प्रति थी इसकी जानकारी मिलती है। इसके अलावा मानसार, युक्तिकल्पतरू समरागणसूत्र धार, साधनमाला, अपराजितपृच्छा आदि ग्रन्थों को शिल्पशास्त्र ही कहा जाता है जो मुख्यतः वस्तु व शिल्प की जानकारी प्रदान करते है। वैसे तो मूर्तिशिल्प का इतिहास अत्यन्त प्राचीन रहा है पर समय के साथ–साथ उसमें परिवर्तन जरूर हुये है। क्षेत्र के आधार पर शैलियां व रीति–नीतियां बदली लेकिन आस्था व विश्वास वही रहा। कला मुख्य रूप से इस संसार के आनंद तथा पृथ्वी पर जीवित प्राणियों के विकास और गति को दर्शाता है।[13]

समय के साथ–साथ मनुष्य की आस्था व विश्वास में बदलाव आया और उसी के आधार पर मूर्तियों के माध्यम से अपने भावों को एक स्वरूप प्रदान किया गया। राजस्थान में भी मूर्तिकला के शिल्प का इतिहास ऐसा ही रोचक रहा है। पूर्व–मध्यकाल में राजस्थान में चौहान, चालुक्य और गुर्जर प्रतिहारों ने शैव, वैष्णव और जैन मूर्तियों को उत्कीर्ण करवाया। उस समय में नाड़ोल व शाकंभरी के चौहान शासकों ने ब्राह्मण और जैन मूर्तियों को उत्कीर्ण करवाया था। सोलंकी (चालुक्य) शासकों का मुख्य क्षेत्र तो गुजरात था परन्तु उन्होंने राजस्थान के भी कुछ क्षेत्रों पर अधिकार किया था। इनके द्वारा यक्षिणियों, सप्त मातृकाओं आदि का अंकन प्राप्त होता है। इसके साथ ही इन राजवंशों के

द्वारा निर्मित मंदिर स्थापत्य कला के बेजोड़ नमूनों से भी मूर्तिकला का सुन्दर इतिहास ज्ञात होता है।[14] देलवाड़ा के जैन मन्दिरों में गज–लक्ष्मी, शंखेश्वरी देवी, चक्रेश्वरी देवी, अंबिका देवी व जैन यक्षिकाओं की मनोहारी छवि प्राप्त होती है। विमलवसही मंदिर में रोहिणी, अप्रत्तिचक्रा वज्राकुंशा, वज्रश्रृंखला, वैरोट्या, पुरूषदता, अच्छुप्ता एवं महामानसी की सर्वाधिक मूर्तियां बनाई गई है। विमलवसही मंदिर में सरस्वती एवं महालक्ष्मी की भी दुर्लभ मूर्तियाँ मिलती है। इसी के साथ षोड्श भुजी, रोहिणी (विमलवसहि, देव कुलिका 11) एवं विशंतीभुजी महामानसी की मूर्तियाँ विशेषतः उल्लेखनीय है। देवकुलिका 44 पर सरस्वती की 16 हाथों वाली मूर्ति उत्कीर्ण मिलती है। लुणवसहि मंदिर में 16 विधा देवियों की खड़ी मूतियाँ प्राप्त होती है।

राजस्थान की पहचान विश्व में शौर्य व पराक्रम की भूमि के साथ ही कला की दृष्टि से भी ख्याति प्राप्त रही है। राजस्थान में मूर्तिकला का विकास प्राचीन काल से ही रहा है विविध पुरातात्विक स्थलों से प्राप्त मूर्तियाँ इसकी कहानी को बयां करती है। बालाथल, नगरी, सुनारी से प्राप्त मृण्मूर्तियां व नोह से प्राप्त यक्षिणी की मूर्तियाँ तथा नगर की सभ्यता से मिली महिषासुर मर्दिनी की प्रतिमा, दुर्गा, लक्ष्मी आदि की मूर्तियाँ राजस्थान में मूर्तिकला की प्राचीनता को सिद्ध करती है कि राजस्थान में सदियों से ही विविध देवियों की अराधना की जाती रही है। इस तरह से पुरातात्विक प्रमाणों के आधार पर राजस्थान में देवी पूजा का प्रचलन ईस्वी शताब्दी के आरम्भ से ही माना जा सकता है बस उसका मूल रूप परिवर्तित होता रहा है।

मूर्तिशिल्प में देवियों को जगत् जननी के रूप में दिखाया जाता रहा है। इसी तरह से पूर्व–मध्यकालीन राजस्थान में मुख्य रूप से चौहान, चालुक्य और गुर्जर प्रतिहार राजवंशों का आधिपत्य था और किसी भी क्षेत्र की कला और संस्कृति पर उस समय के राजवंशों के धर्म का व्यापक प्रभाव पड़ता है। क्योंकि उनके द्वारा किसी धर्म विशेष को आश्रय देने व पालन करने से उनकी नीतिया भी वैसी ही होती है। ऐसा ही पूर्व–मध्यकाल में राजस्थान में मूर्तिशिल्प के निर्माण में देखने को मिलता है। चित्तौड़ जो शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, बौद्ध एवं जैन धर्मो का पावन तीर्थ स्थल रहा है। इसमें कालिका माता का मंदिर जिसमें गंगा व यमुना की मूर्तियाँ अंकित है। जगत् का अम्बिका माता का मंदिर, मातृदेवी दुर्गा के शांत व अभय रूप की उपासना का केन्द्र है। इस पर महिषमर्दिनी कथा का विविध रूपों में चित्रांकन किया गया है। इसमें देवी के रौद्ध रूप की शक्ति रूप और वरद रूप से दिखाया गया है। इन स्थलों के अलावा बाड़मेर के किराडू, आभानेरी के चाँदबावड़ी, जोधपुर के उनवास मंदिर में दुर्गा, सरस्वती व लक्ष्मी, महिषमर्दिनी के विभिन्न रूप श्रृंगार, पार्वती आदि की प्रतिमायें उत्कीर्ण है। बीकानेर के पल्लू ग्राम से प्राप्त पूर्व–मध्यकालीन मूर्तियों में 1050 ई. की संगमरमर की बनी सरस्वती की प्रतिमा कला के उत्कृष्ट नमूनों में आंकी जाती है। शिव मंदिर से प्राप्त सरस्वती की मूर्ति स्थानक मुद्रा में है, मूर्ति त्रिभंग मुद्रा में दर्शायी गई है। जिनके दोनों अधः कर खण्डित हो गए है। दक्षिणऊर्ध्वकर में पुस्तक व वामऊर्ध्वकर में वीणा है। सरस्वती ने कुण्ड़ल, मुकुट, हार, वनमाला व भुजबंध धारण कर रखा है। इनके दाएं पांव के पास उनके वाहन मयूर का अंकन है। विष्णु मंदिर से प्राप्त सरस्वती की मूर्ति में उन्हें चतुर्भुजी प्रदर्शित किया गया है। मूर्तिविज्ञान के आधार पर घण्टाकर्णी के हाथों में त्रिशूल व घण्टा प्रदर्शित होना चाहिए। देवी के चतुर्भुजी हाथों में क्रमशः वरदमुद्रा, त्रिशूल दायें हाथ में व बायें ऊपरी हाथ में घण्टा व नीचे के हाथ में कमण्ड़ल होना चाहिए। दुर्गा जटामुकुट एवं आभूषणों से सुशोभित होनी चाहिए।" इसी के साथ मूर्ति रूपांकन ओसियां (आठवीं –नवीं शताब्दी ई.), बाड़ोली (नवीं शताब्दी ई.), जगत् (10वीं शताब्दी ई.) के मंदिरों, रेवाड़ा की महिषमर्दिनी (1238 वि.सं.) की शक्ति प्रतिमाओं से प्राप्त होती है।[15] ये मूर्त रूपांकन राजस्थान के मूर्तिशिल्प में शक्ति पूजा की निरन्तरता के प्रमाण है।

मूर्तिकला का विकास केवल पूजा के दृष्टिकोण से ही नहीं बल्कि मनुष्य के मनोभावों को अमूर्त से मूर्त रूप में भावाभिव्यक्ति प्रदान करता है। सहस्त्रों वर्षों पूर्व मानव ने मूर्तियाँ मात्र मानव आकृति का भान कराने वाली बनाई थी

परन्तु धीरे–धीरे इसके स्वरूप में परिवर्तन होता गया। भारतीय शिल्प में श्रृंगार दुर्गा का अंकन अत्यल्प है। दुर्गा मूर्ति के पार्श्ववतीं अनुरचों एवं कर्ज रथों में खड़ग खेटक एवं चनुौरी पुरुष औ वृषभ आकृतियां बनी है जो नृत्य की अपेक्षा रणक्षेत्र की ओर देवी को प्रस्थान का संकेत देती है।

किराडू के सोमेश्वर मंदिर के सभामण्डप के स्तम्भ से ब्राह्मी की एक मूर्ति मिली है जिसमें ब्राह्मी चतुर्मुखी एवं चतुर्भुजी है। उनका दक्षिणाधः कर अक्षमाला लिए हुए वरद मुद्रा में है एवं दक्षिणऊर्ध्वकर खण्ड़ित है। वामऊर्ध्वकर में पुस्तक तथा वामाधःकर खण्डित है। ब्राह्मी के बाएं पांव के पास हंस का अंकन किया गया है। ब्राह्मी कुण्डल, माला आदि आभूषणों से सुशोभित है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में बतलाया गया है कि श्वेतवर्णी, जटा–जूटधारी माहेश्वरी के पांच मुख तथा तीन नेत्र होने चाहिए। वह वृषभासीन होती है उसकी छः भुजायें होती है। दाहिनी ओर की तीन भुजाओं में से दो में क्रमशः सूत्र और डमरू रहता है और एक वरद मुद्रा में रहता है। बाएं हाथों में दो में शूल और घंटा और एक हाथ अभयमुद्रा में रहता है। देवमूर्तिप्रकरण में माहेश्वरी की वृषभ पर आरूढ़, षड्भुजी, पंचमुखी, त्रिनेत्र और बालेन्दु युक्त जटा–जूट से सुशोभित मूर्ति का वर्णन है। किराडू के मंदिरों से माहेश्वरी की एकल स्वरूप की काफी मूर्तियां प्राप्त हुई है। कहीं–कहीं उनके वाहन नंदी को प्रदर्शित किया गया है। किराडू मंदिर समूह में पार्वती की एक मूर्ति प्राप्त हुई है जो कि सोमेश्वर मंदिर की बाह्य भित्ति के भाग में उपलब्ध है इसमें ललितासीन पार्वती चतुर्भुजी है।

इस प्रकार से कलाओं में मूर्तिकला एक ऐसा स्रोत है जो मनुष्य के मनोभावों व विचारों को पत्थर व अन्य धातु के रूप में उत्कीर्ण करता है। जहां पुरापाषाण काल में मनुष्य सिर्फ भौंडे पत्थरों को ही रूप व आकार दे पाता था। धीरे–धीरे मानव ने उन अनघड़ पत्थरों को ही ऐसा रूप और सौन्दर्य प्रदान किया कि वो धर्म व आस्था का प्रतीक बन गये। इस तरह से भारतीय कला हर युग में प्रचलित रही और इस देश के धर्म और संस्कृति से अनुप्रमाणित होती रही है।

मैके के अनुसार जनसाधारण के लिये मातृदेवी की पूजा अधिक सहज रही है क्योंकि माँ के रूप में वह अन्य देवताओं की अपेक्षा अधिक निकट हो सकती है। आज भी भारतीय जातियों और अधिकांश ग्रामीणों के धर्म में मातृदेवी की उपासना ही नारी रूप में विधमान है। उनका विविध रूपों में नारी रूप में चित्रण किया जाता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर स्वीकारा जा सकता है कि पाषाण युग से ही मूर्तिशिल्प कला प्रचलित रही है और आज भी व्यापक पैमाने पर प्रचलित है। परन्तु उसकी मूल विषय वस्तु हमेशा से ही नारी एवं दैवीय रही है। आज भी क्षेत्र–क्षेत्र की संस्कृति के अनुसार लोक–चेतना में विविध आकार–प्रकार व रूपों में व्यापकता है। बदलते परिवेश में मूर्तिकला में परिवर्तन जरूर हुआ है लेकिन यह मनुष्य के अमूर्त विचारों को मूर्त रूप में अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला एक ऐसा माध्यम है जो मनुष्य को हमेशा सन्मार्ग, सत्य, सच्चाई की तरफ अग्रसर करता है। और आज सदियों बाद भी यह कला हमारी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये हुये है।

***सहायक आचार्य**
इतिहास एवम् भारतीय संस्कृति विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)

सन्दर्भ :–

1. आचार्य भुवनदेव, अपराजितपृच्छा, पृष्ठ संख्या 223
2. अग्निपुराण, पृष्ठ संख्या 223

3. रूपमंडन, बलराम श्रीवास्तव सम्पादित, पृष्ठ संख्या 92–93
4. मत्स्य पुराण, पृष्ठ संख्या 260
5. देवतामूर्ति प्रकरणम्, अध्याय 8, श्लोक 61–75
6. देवीभागवत पुराण, 12.57–58
7. लिंग पुराण, अध्याय 82, श्लोक 96–97
8. मार्कण्डेयपुराण, अध्याय 85,श्लोक 82–87
9. श्याम शर्मा,प्राचीन भारतीय कला, वास्तुकला एवं मूर्तिकला, पृष्ठ संख्या 96
10. श्याम शर्मा,प्राचीन भारतीय कला, वास्तुकला एवं मूर्तिकला, पृष्ठ संख्या 99–101
11. किरण कुमार थपल्याल और संकटा प्रसाद शुक्ल, सिंधु सभ्यता (धार्मिक विश्वास और अनुष्ठान), पृष्ठ संख्या 138
12. डॉ. ब्रजभूषण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणासी, 1990 वि. सं.
13. वाशम ए.एल., अद्भुत भारत कलाएं वास्तुविधा, मूर्तिकला, चित्रकला एवं संगीत तथा नृत्य, आगरा–2 पृष्ठ संख्या 267
14. डॉ. मीनाक्षी कासलीवाल, भारतीय मूर्तिशिल्प कला, पूर्व–मध्यकालीन मूर्तिकला का इतिहास, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृष्ठ संख्या 260
15. डॉ. नीलिमा वशिष्ठ, राजस्थान की मूर्तिकला परम्परा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2001 पृष्ठ संख्या 101